वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल ४, मंगलवार
दि. २५-१-१९६६, ढाल-२, गाथा ६, ७ प्रवचन नं.-८

बन्धतत्त्व की भूल। आत्मा का निजस्वभाव अबन्धस्वरूप है। पुण्य-पाप का भाव, वह भावबन्ध है और जड़कर्म का बन्ध, वह निमित्त, व्यवहार निमित्तबन्ध है। दोनों से रहित आत्मा का अबन्धस्वरूप है। उस निजपद को भूलकर, यह इसका-छठवीं गाथा का पहला शब्द पड़ा है - '**निजपद विसार।**' अपना पद है, वह ज्ञानानन्द शुद्ध अबन्धस्वरूप है। उसे भूलकर '**अघातिकर्म के फल-अनुसार...**' कोई पुण्य-पाप के भाव किये हों, उसका बन्धन हुआ हो, उसका संयोग मिले-ऐसा यहाँ कहना है। संयोग में '**अनुकूल-प्रतिकूल...**' संयोग-वियोग अवस्थायें होती है। मिथ्यादृष्टि उन्हें अनुकूल-प्रतिकूल मानकर '**उनसे मैं सुखी-दुःखी हूँ - ऐसी कल्पना द्वारा राग-द्वेष, आकुलता करता है।**'

आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप निजपद है। (उसे) भूलकर अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष (करता है।) देखो ! इसमें चित्र में भी दिया है। चित्र में है ? शुभ-निरोगी शरीर और भोजन करने बैठा है और व्यवस्थित ऐसा सब प्याला-ब्याल लगा है। नहीं है ? है ? इसमें नहीं होगा। है ? देखो ! प्याला, बर्तन, जगह, वह ऊर क्या कहलाता है तुम्हारे ? बैठने

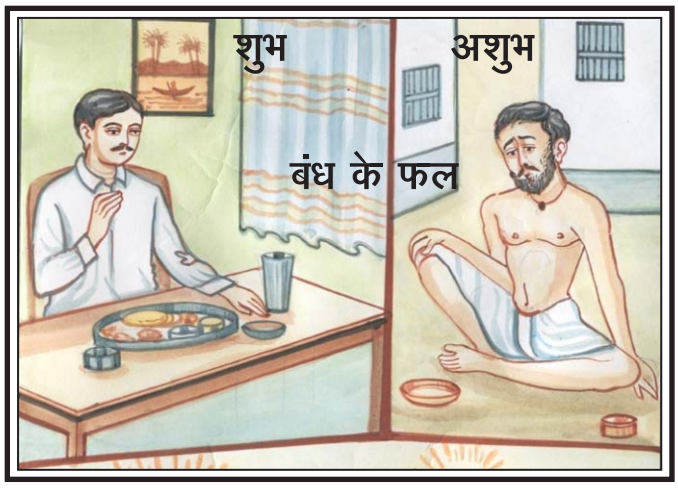

की यह (कुर्सी) रखने का टेबल। ऐसे खाता है। शुभ-पुण्य का फल है, उसे अपना मानता है। टेबिल-बेबिल अच्छा रखा है। थालियाँ-सोने की थाली, चांदी की थाली, उसमें व्यवस्थित कटोरी हो; उसमें बादाम, पिश्ता, पापड़ और सब (रखा हो)। खाने बैठा है ऐसे...प्रसत...प्रसत...।

अशुभ में वह एक गरीब बताया है। देखो ! साधारण लंगोटी, जीर्ण शरीर और ऐसे (बैठा है)। ये दोनों अघातिकर्म, पुण्य-पाप के भाव, इनसे बँधा हुआ अघातिकर्म, उनसे प्राप्त हुआ यह संयोग - उसे अपना स्वरूप मानता है। अनुकूलता में रति माने और प्रतिकूलता में अरति-खेद करे, उसे बन्ध तत्त्व की भूल है। दोनों एक प्रकार के हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। पुण्य से अनुकूल संयोग हो या पाप से प्रतिकूल (संयोग हो), दोनों संयोग तो एकसे ही हैं। बाहर के वेष शरीर आदि जड़ के हैं, वह कोई आत्मा का वेष नहीं है। यह आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप को भूलकर ऐसे संयोग में रति-अरति करता है। इसे बन्ध तत्त्व का मिथ्यादृष्टिपना कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

'**धन, योग्य स्त्री...**' लक्ष्मी कुछ ठीक मिली हो, अनुकूल स्त्री हो, पुत्रादिक अनुकूल हो, (उनका) '**संयोग होने से रति करता है...**' उनमें रति करनेपना कहाँ है ? आत्मा में आनन्द है, उसे भूलकर, उनमें प्रेमवृत्ति करता है-यह बन्धतत्त्व की और आत्मा की दोनों की भूल यह है। निजपद को भूलकर बन्ध के फल में रति करता है, उसे बन्ध के तत्त्व का पता नहीं है। समझ में आया ? शरीर में रोग हो, '**निन्दा, निर्धनता, पुत्रवियोगादि होने से अरति करता है; पुण्य-पाप दोनों बन्धनकर्ता है...**' पुत्र का वियोग हुआ, वहाँ दुःख मानता है। वह तो संयोग की चीज़ है। अनुकूल हो या प्रतिकूल हो, वह तो संयोगी फल (है।) स्वभाव वस्तु नहीं है। स्वभाव तो ज्ञानस्वरूप है। इस ज्ञान के निजपद की दृष्टि और रुचि, ज्ञान और लीनता चूककर, बन्ध के दो भाग करके एक में रति और (एक में) अरति करता है - यह मिथ्यादृष्टि का बन्ध बन्धतत्त्व की भूल का लक्षण है। यह तो बहुत सादी भाषा में, हिन्दी में सादी भाषा में (वर्णन किया) है।

मुमुक्षु :- रति करता है ?

उत्तर :- रति करता है। अच्छी निद्रा ले तो रति करता है, निद्रा न आवे तो अरति करता है। नींद न आवे तो नहीं करते ? पूरी रात चिल्लाता है। अरे... पूरी रात.. आज तो ज़रा भी नींद नहीं आयी, भाई ! अपने दृष्टान्त यहाँ है न ! वह तो कहने के लिए। दूसरे बहुत होते है न ? रात्रि में अच्छी नींद न आवे तो यह करवटे बदले। एक सेठ था। उसके बारह हाथ का कमरा और बारह हाथ चौड़ा गद्दा, पूरा कमरे के बराबर। फिर ऐसे से ऐसे, ऐसे से ऐसे ठेठ तक नींद ही नहीं आवे। हमारे गाँव मे एक ब्राह्मण था। (उसे) ३३ वर्ष से नींद नहीं (आती थी।) यह तो गद्दे में नींद नहीं आवे - ऐसा कहना है। ऐसे में कसर-मसर, कसर-मसर करे और वह नींद नहीं आवे, इसलिए उसमें अरति-खेद, खेद किया करे। अरे...! नींद नहीं आती, अरे...! नींद नहीं आती, अरे...! नींद नहीं आती। फिर वह गौलियाँ खाये। नींद की (गौलियाँ) नहीं आती ? ऐ...ई..! बहुत आती है। आवे तो सब पता होवे न ! नींद की गौलियाँ आती हैं। बहुत खाये फिर शक्तिहीन हो जाए।

कहते है, नींद इत्यादि में दुःख वेदे, दुःख। आहा...हा...! देखो न ! यह गरीब मनुष्य निश्चिन्ता से खर्राटे लेता है और हमारे पास पैसे होते भी नींद नहीं - ऐसा करके चीखे-चिल्लाए। अंदर में चिल्लाए, हों ! यह बन्ध की भूल है। अब नींद न आवे तो दुःख क्या ? और नींद आवे तो सुख क्या ? ऐसा कहते हैं। नींद आयी तो उसमें सुख कहाँ से आया ? छह घण्टे, आठ घण्टे ऐसी मधुर-मीठी नींद आयी - फिर ऐसा बोलता है। बोलता है या नहीं ? है ? ऐसी मधुर-मीठी नींद (आयी कि) छह घण्टे तो आँख ऊँची नहीं हुई। पता नहीं सपने में, फिर दो घण्टे ऐसी मीठी नींद आयी (कि) साड़े छह बज गये, लो ? हमें पता नहीं रहा। है ? पिछले प्रहर की शीतल हवा, थके-हारे, ऐसी नींद आयी। नींद आयी, उसमें सुख क्या माना ? ऐसा कहते हैं। भाई ! मूढ़ हो, कहते हैं। नींद आयी - सुख किसका ? उसमें तुने किसकी रति की ? यहाँ तो ऐसी बात है।

मुमुक्षु :- दुःख...।

उत्तर :- परन्तु दुःख की व्याख्या क्या ? मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान, वह दुःख है। वह दुःख कहाँ भूल गया है, वह तो अन्दर पड़ा है। कुछ समझ में आया ? नींद से दुःख हों। उसमें नींद नहीं ली कि नींद आवे तो सुख हो। उसमें सब ले लेना।

'पुण्य-पाप दोनों बन्धन कर्ता है किन्तु ऐसा न मानकर पुण्य को हितकारी मानता

है; तत्त्वदृष्टि से तो पुण्य-पाप दोनों अहितकर ही हैं परन्तु अज्ञानी ऐसा निर्धारिरूप नहीं मानता...' अर्थात् निजस्वरूप को जाने बिना-यह पद अन्दर सबमें लेना। मूल है न ? '**रति-अरति करै निजपद विसार।**' अपना पद ज्ञाता-दृष्टा है। यह धर्मी तो नींद में भी ज्ञाता-दृष्टा है। आहा...हा...! समझ में आया ? वह नींद में सुख नहीं मानता। आहा...हा...! है ?

मुमुक्षु :- नींद में।

उत्तर :- वह अन्दर ज्ञाता-दृष्टा है। भान सदा ही वर्तता ही है। उसमें, कहीं निद्रा से सुख है और न आवे तो दुःख है - ऐसा नहीं मानता। सूक्ष्मबात है, भाई ! आहा...हा...! जागृतभाव में सो रहा है, उसे सोते में भी ज्ञाता-दृष्टापना ही है। ऐसी बात है, भाई ! अन्य तो सोता हो तो (मानो) बेभान (हो गया हो), कोई भान नहीं होता। भगवान तो तीन ज्ञान के स्वामी, माता के गर्भमें भी नो महीने जागृत हैं। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ? मति-श्रुत और अवधि-तीन ज्ञान सहित तीर्थंकर माता के गर्भ में आवें परन्तु अन्दर भान-ज्ञाता-दृष्टापना सदा ही वर्तता है। यह तो कैसी (बात है) ! चैतन्य स्वयं जगा तो फिर वहाँ दूसरे साधन उसे बाधक कहाँ है ? कुछ समझ में आया ? बाहर के अनुकूल साधन उसे अनुकूल है या प्रतिकूल-यह है ही नहीं। जरा प्रमाद आ जाए तो भी अन्दर ज्ञाता-दृष्टापना नष्ट नहीं हो जाता। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ?

मुनि को तो निंद्रा बहुत कम (होती है)। उसमें भी ज्ञाता-दृष्टिपना रहकर थोडी नींद होती है। छठ्ठे गुणस्थान में भी चारित्र, दर्शन और ज्ञान सहित में जरा सा प्रमाद आवे। वह घण्टा-घण्टा नींद न ले। आहा..हा..! चारित्र किसे कहना ? मुनिपना चारित्र किसे कहते हैं ? लोगों को पता नहीं चलता। बाह्य मानी हुई क्रिया में नग्न हुए (वह) चारित्र। भाई ! चारित्र तो आत्मा की जागृति के साथ आनन्द इतना प्रवाहित होता है नींद भी बहूत कम (होती) है। छठ्ठे गुणस्थान का हिस्सा (भाग) ही पौनी सेकण्ड है। जरा सी इतनी निंद आवे तो भी भीतर में जागृत है। आहा..हा..! तुरंत सातवाँ आवे, तुरंत छठ्ठा आवे, तुरंत छठ्ठा आवे। वह भी रात्रि के पिछले प्रहर के अमुक भाग में (थोड़ी नींद आवे)। ऐसी चारित्रदशा सम्यग्दर्शन सहित हो उसे साधुपद और भावलिंग कहा जाता है। दुनिया को बाहर से मापने, भीतर तत्त्व क्या है, श्रद्धाज्ञान का पता नहीं। आहा..हा..! क्या कहा समझ में आया ?

अज्ञानी अपने स्वरूप को भूलकर '**निर्धाररूप नहीं मानता...**' निर्णय नहीं करता कि नींद में सुख नहीं है और अनिद्रा में दुःख नहीं है। इस जगत से सब उल्टा है, भाई ! यह बन्धतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है, लो ! समझ में आया ?

अब '**(२) संवरतत्त्व की भूल :-**' यह इसमें आ गया है। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इसमें आया था न ? देखो ! वैराग्य, ज्ञान उसे दुःखदायक मानता है। आया था न ? देखो ! इसमें भी फोटो है। देखो ? देखो ! इसमे फोटो है। मुनि ध्यान में ज्ञानानन्दस्वरूप में अन्दर रमते हैं। उन्हें फिर एक दीपक से उजाला करता है। ज्ञान का होगा। हें ? ज्ञान का दीपक और वह पुस्तक-बुस्तक है ? ठीक ! वह एक युवक खड़ा है। (वह कहता है), नहीं... नहीं... नहीं। ऐसा ज्ञान और ऐसा चारित्र नहीं। ऐसा नहीं। पाठ है सही न ? है ?

'**आत्महित हेतु विराग-ज्ञान, ते लखै आपकूं कष्टदान...**' यह ज्ञान क्या ? यह दुःखदायक है। आत्मा का ज्ञान और आत्मा का चारित्र, उसे मिथ्यादृष्टि दुःखदायक मानता है। बापा ! चारित्र तो लोहे के चने चबाने (जैसा है), अर्थात् अज्ञानी ने चारित्र को दुःखदायक माना है। चारित्र अर्थात् तो आत्मा के आनन्द में रमणता। अतीन्द्रिय आनन्द का रस। सिद्ध को आनन्द आवे वैसा ही आनन्द इसे आता है। ऐसा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आनन्ददाता (है), उसे अज्ञानी दुःखदाता मानता है। समझ में आया ?

'**जीव को हितकारी है, स्वरूप में स्थिरता द्वारा राग का जितना अभाव, वह वैराग्य है...**' अर्थात् वास्तविकरूप से चारित्र है। '**और वह सुख के कारणरूप है...**' जितना आत्मदर्शनपूर्वक राग घटकर स्थिरता हो, वह आनन्ददायक है, हितकारी है, शान्ति का दाता है। '**तथापि अज्ञानी जीव उसे कष्टदाता मानता है।**' बापा ! चारित्र तो ओ..हो..हो...! बहुत

कठिन ! हवा से थैली भरना सरल, परन्तु चारित्र पालना बहुत कठिन है। है ! उस 'मृगापुत्र' मैं आता है न ? तराजू में मेरुपर्वत तोलना। तराजू में मेरुपर्वत तोलने की अपेक्षा भी चारित्र कठिन है - ऐसा करके दुःखदायक मानता है। ऐसा नहीं, भाई ! जिसके घर में ठहरना, उसमें दुःख क्या ? कुछ समझ में आया ? चारित्र तो आत्मा के आनन्दस्वरूप में स्थिरता, रमना (है।) भोजन-अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करने का नाम चारित्र है। मिथ्यादृष्टि मूढ़ उस चारित्र को दुःखदायक, कष्टदायक, व्याकुलता... व्याकुलता... व्याकुलता (मानता है)। है न ? देखो ! ऐसा हाथ करता है, नहीं। फोटो ठीक निकाले लगते हैं। यह तो पहले के हैं, हाँ ! हिन्दीवालो के। समझ में आया ? '**यह संवरतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।**' लो ! यह छठवीं (गाथा पूर्ण) हुई।

निर्जरा और मोक्ष की विपरीत श्रद्धा तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान

रोके न चाह निजशक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय;
याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान।।७।।

अन्वयार्थ :- [मिथ्यादृष्टि जीव] (निजशक्ति) अपने आत्मा की शक्ति (खोय) खोकर (चाह) इच्छा को (न रोके) नहीं रोकता, और (निराकुलता) आकुलता के अभावको (शिवरूप) मोक्षका स्वरूप (न जोय) नहीं मानता। (याही) इस (प्रतीतिजु) मिथ्या मान्यता सहित (कछुक ज्ञान) जो कुछ ज्ञान है (सो) वह (दुखदायक) कष्ट देनेवाला (अज्ञान) अगृहीत मिथ्याज्ञान है ऐसा (जान) समझना चाहिये।

भावार्थ :- निर्जरातत्त्व में भूल :- आत्मा में आंशिक शुद्धि की वृद्धि तथा अशुद्धि की हानी होना उसे संवरपूर्वक निर्जरा कहा जाता है; वह निश्चयसम्यग्दर्शन पूर्वक ही हो सकती है। ज्ञानानन्दस्वरूपमें स्थिर होनेसे शुभ-अशुभ इच्छाका निरोध होता है वह तप है। तप दो प्रकार का है : (१) बालतप (२) सम्यक् तप; अज्ञानदशामें जो तप

किया जाता है वह बालतप है, उससे कभी सच्ची निर्जरा नहीं होती; किन्तु आत्मस्वरूप में सम्यकप्रकार से स्थिरता-अनुसार जितना शुभ-अशुभ इच्छा का अभाव होता है वह सच्ची निर्जरा है - सम्यक्तप है; किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है। अपनी अनन्त ज्ञानादि शक्ति को भूलकर पराश्रयमें सुख मानता है, शुभाशुभ इच्छा तथा पांच इन्द्रियोंके विषयों की चाहको नहीं रोकता - यह निर्जरातत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है।

(२) मोक्षतत्त्व की भूल :- पूर्ण निराकुल आत्मिकसुख की प्राप्ति अर्थात् जीव की सम्पूर्ण शुद्धता वह मोक्ष का स्वरूप है तथा वही सच्चा सुख है। किन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं मानता।

मोक्ष होने पर तेजमें तेज मिल जाता है अथवा वहाँ शरीर इन्द्रियाँ तथा विषयों के बिना सुख कैसे हो सकता है ? वहाँ से पुनः अवतार धारण करना पड़ता है - इत्यादि। इस प्रकार मोक्षदशामें निराकुलता नहीं मानता वह मोक्षतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।

(३) अज्ञान :- अगृहीत मिथ्यादर्शन के रहते हुए जो कुछ ज्ञान हो उसे अगृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं, वह महान दुःखदाता है। उपदेशादि बाह्य निमित्तों के आलम्बन द्वारा उसे नवीन ग्रहण नहीं किया है, किन्तु अनादिकालीन है, इसलिये उसे अगृहीत (स्वाभाविक-निसर्गज) मिथ्याज्ञान कहते हैं। ।।७।।

अब, '**निर्जरा और मोक्ष की विपरीत श्रद्धा तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान।**' सातवीं (गाथा में) तीन की बात आती है। वह 'छहढाला' तो तुम्हारे सब बहुत बार (पढी गयी) होगी। यह 'छहढाला' तो तुमने पढ़ी होगी न ? हिन्दुस्तान में (दिगम्बरों के) घर में चलती होगी (परन्तु) अर्थ नहीं आते होंगे।

रोके न चाह निजशक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय;
याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान।।७।।

'**रोके न चाह निज शक्ति.. मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्माकी शक्ति...**' आनन्दरूप

शक्ति है, उसे खो बैठता है। अकेली अभिलाषा के, इच्छा के वेग में, इच्छा के वेग में आत्मा के आनन्द की शान्ति को खोता है और मानता है कि मुझे इच्छा मैं मजा है - यह निर्जरातत्त्व की भूल है। कुछ समझ में आया ? इच्छा उत्पन्न नहीं होना और आत्मा के आनन्द की, शान्ति की उत्पत्ति होना, शक्ति की व्यक्तता होना, उसका नाम निर्जरा है। ऐसी भाषा है, भाई ! क्या कहा ?

'**रोके न चाह निजशक्ति खोय...**' अर्थात् निजशक्ति को प्रगट करना, उसका नाम निर्जरा है। आहा...हा...! भगवान आत्मा ज्ञान और अतीन्द्रिय की मूर्ति है। उसमें एकचित्त होकर उस शक्ति की व्यक्तता, शुद्ध का प्राकट्य होना उसका नाम निर्जरा है। आहा..हा..! निर्जरा की व्याख्या, देखो ! कहा न ? '**रोके न चाह निजशक्ति खोय...**' इसका अर्थ यह कि निर्जरा की भूल है। तब निर्जरा किसे कहना ? कि निजशक्ति की व्यक्तता प्रगट करे, उसे निर्जरा कहना। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य, पुण्य-पाप की इच्छारहित वस्तुमें अन्दर सम्यग्दर्शन, ज्ञानपूर्वक स्वरूप में शक्ति की प्रगटता का पुरुषार्थ (होना), ऐसी शुद्धता की व्यक्तदशा (होवे), उसे भगवान निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा-ऐसा नहीं करके अकेली इच्छाओं में घिरकर शक्ति को प्रगट नहीं करता। वह उसमें ठीक मानता है, इच्छा में ठीक मानता है। (जो) इच्छा में ठीक मानता है, उसे निर्जरातत्त्व की भूल है। कुछ समझ में आया।

'**इच्छा को नहीं रोकता...**' इसका अर्थ कि आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है - ऐसी शक्ति की उसे प्रतीति नहीं है। उसकी प्रतीति शुभ की अभिलाषाओं में सब-सर्वस्व मानता है। जो शुभ-अशुभ की इच्छाएँ होती हैं, उसमें सब सर्वस्व मानता है। ओ..हो..! आखिर बहुत तो शुभ इच्छा हुई, हमने बहुत काम किया, बहुत काम किया... परन्तु इस इच्छा में तो आत्मा के आनन्द की शक्ति, व्यक्तता रुक गयी है। कुछ समझ में आया ?

यहाँ तो इच्छा में शुभ इच्छा भी इच्छा है। आहार न करूँ- ऐसी भी जो इच्छा, उस इच्छा के पीछे आत्मा कौन है ? - इसका पता नहीं। आत्मा इच्छारहित चीज़ है। ऐसी आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक, पुरुषार्थ से शक्ति का व्यक्तपना प्रगट होना, इसका नाम निर्जरातत्त्व कहते हैं। वह (अज्ञानी) इस शुभ इच्छा में सर्वस्व मानता है। शुभ इच्छा हुई न ! आहार नहीं करने की या किसी प्रकार से प्रायश्चित की (या) अमुक (इच्छा), शुभराग। भाई ! यह शुभराग हुआ,

उसे ही निर्जरा और लाभ मानता है। आहा...हा...! समझ में आया ? भगवान आत्मा पूर्ण निरोध, इच्छा-निरोध तत्त्वस्वरूप है - ऐसे स्वरूप में से जो तत्त्व पूरा अखण्डानन्द प्रभु, उसकी प्रतीति, ज्ञानपूर्वक उसमें लीनता होने से जो शुद्धता के अंश प्रगट होते हैं, उसका नाम निर्जरा अथवा शुद्ध उपयोग निर्जरा अथवा शुद्धिकी वृद्धि, वह निर्जरा है। अज्ञानी शुभ इच्छा में सन्तुष्ट हो गया है। ओ..हो..! वहाँ शक्ति रुक गयी है और उसे मानता है कि हम धर्म करते है और निर्जरा करते हैं। कुछ समझ में आया ?

'**रोके न चाह निजशक्ति खोय...**' इन शब्दो में से बहुत अर्थ भरा है.. हाँ ! कहो, समझ में आया कुछ ? उस शक्ति को खोकर बैठा है, अर्थात् इच्छा में ही जो अभिलाषा - इच्छा है कि यह करूँ, यह नहीं खाऊँ, यह नहीं लूँ, यह नहीं दूँ, यह छोड़ूँ, यह रखूँ - ऐसी इच्छा में ही यह सब मान बैठा है। यह तप है और यह निर्जरा है, यह संवर है और यह धर्म है। इच्छा तो आत्मा की शान्ति को, शुद्धता को रोकनेवाली है। इसकी इच्छा द्वारा मुझे निर्जरा होती है और मुझे तप हुआ - ऐसा मानना, यह निर्जरातत्त्व की भूल है। आहा...हा...! कहो, है इसमें ? है या नहीं इसमें ? इसमें पाठ भरा है, इसका भी पता नहीं चलता।

फिर '**शिवरूप निराकुलता न जोय...**' यह निराकुलता तो मोक्षदशा है। इसके अतिरिक्त कहीं निराकुलता नहीं होती, परन्तु कहीं राग की मन्दता या ऐसे भाव में निराकुलता मानकर वहाँ सर्वस्व मोक्ष मानता है, उसे मोक्षतत्त्व की भूल है। सर्वथा निराकुलता हो जाने का नाम मोक्ष है। यहाँ ऐसी व्याख्या की है। पूर्ण निराकुलता और पूर्ण अनाकुल का आनन्द का प्रगट होना, इसका नाम मोक्ष है। ऐसे अनाकुल आनन्द को नहीं जानकर अनाकुल आनन्दरूपी मुक्तदशा को नहीं मानकर, कोई मन्दराग की आकुलता घटी तो हमारी हमारी आकुलता तो कम होती है न ! आकुलता तो कम होती है न ! - ऐसा मानकर मोक्षतत्त्व को नहीं जानता। समझ में आया ?

जिसने शुभ इच्छा से मोक्ष माना है, उसने

आकुलता से निराकुलता का फल माना है, अर्थात् (उसे) निराकुलतारूप मोक्ष की प्रतीति का पता नहीं। आहा...हा...! अनाकुलरूप चैतन्यस्वरूप, उसकी पर्याय में अनाकुलरूप प्रगट पर्याय का प्रगट होना, उसका नाम मोक्ष है। ऐसी अनाकुलता में उसकी भूल होती है। कोई बन्ध करे तो अपने को लाभ होगा, शुभभाव में भी अपने को मुक्ति होगी उससे परम्परा मुक्ति होगी (-ऐसा मानता है।) समझ में आया कुछ ? उस निराकुलता का कारणरूप भी निराकुलता का ही भाव होना चाहिए। ऐसे भाव को नहीं जानकर, निराकुलता की पूर्णता अर्थात् मोक्षतत्त्व को भी वह नहीं जानता। कुछ समझ में आया ?

'**याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान,...**' ऐसी विपरीत श्रद्धापूर्वक-समस्त सातों ही तत्त्व आ गये। आ गये ? जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। सततत्त्व की भूल हो गयी। '**याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुःखदायक अज्ञान जान।**' सात है न, सात ? देखो ! वह लिया है उसमें हों ! देखो ! अथाह चाह देखो ! नीचे एक लड़का या युवक बैठा है। अथाह याह। क्या करूँ? स्त्री, पुत्र, यह, यह अभिलाषा... अभिलाषा... अभिलाषा। अन्दर बहुत अधिक (चित्रित किया) है। मकान है और मनुष्य है... है या नहीं ? है ? गाड़ी है। मोटर सदा ही कहाँ थी ? परन्तु बंगला...बंगला हो उस ओर मोटर है - ऐसा न यह ? बंगला हो लो, न सब। यह... देखो न, ऐसे बैठा है। ऐसा करके। विचार में चढ़ गया है। कैसे कमाना ? कैसे पैदा करूँ? कैसे सट्टा करना ? देखो ! विचार में चढ़ गया है। लंगोट जैसा वस्त्र पहिना है, एक पैर ऐसे पड़ा है, एक हाथ ऐसे रहा (है)। है ? और फिर मैं कुछ ठीक करता हूँ - ऐसे भाव में पड़ा है वह। मैं कुछ ठीक करता हूँ कमाने का भाव करता हूँ, अमुक करता हूँ, अमुक करता हूँ - यह सब ठीक करता हूँ, ऐसे भाव में

चढ़ गया है, जीव की शक्ति रोकता है और मानता है कि कुछ हित करता हूँ, अर्थात् ठीक करता हूँ।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह भी इच्छा का अर्थ समझना चाहिए न ! भाषा तो सब बोल देते हैं। यह रेकोर्डिंग बोलते है। भाई ! यह इसे प्रतिकूलता में दुःख होता है, उसकी इच्छा का कहाँ भान है इसे ?

मुमुक्षु :- अब क्या करना - यह तो कहो ?

उत्तर :- यह कहते हैं, वस्तु की श्रद्धा-ज्ञान करके और इच्छा को रोकना, स्वरूप में स्थिर होना ही शान्ति का उपाय है; दूसरा कोई उपाय तीन काल में नहीं है। यह तो ज़रा प्रतिकूलता (आवे, वहाँ) रोता है। हाय...हाय... हिम्मत हार गये, अब क्या करना है ? मर जाएँ। कहां जाना है यहाँ से ? भाई ! यह तुम्हारे भाई का सब खुल्ला करते हैं। यह तो ऐसे बहुत होते है न ! एक नहीं, ऐसे तो बहुत होते हैं। मर जाएँगे। यहाँ से कहाँ जाओगे ? ज़हर पीने का मन हो जाता है। हमारे तो गुप्त पत्र भी बहुत आते हैं। बहुत दुःखी के पत्र आते हैं। महाराज ! कुछ भेजो, हों ! वरना अब जहर पीने का समय आया है। यहाँ कौन जाने रुपयों के ढ़ेर पड़े हैं - ऐसा लोगों को हो गया है, हाँ ! वहाँ ऐसा कि इनके पास करोड़ो रुपये पड़े हैं और सेठों का जरा आदेश करें - इतनी देर है। ज़रा एक पाँचसौ भेजो, एक पाँच हजार भेजो और मेरी दुकान भी चलने के बाद में आपको धीरे-धीरे दे दूँगा। यहाँ दुकान और धन्धा होगा। आहा...हा...! वरना पाँच दिन में हमारी बात प्रसिद्ध हो गयी तो हमारे ज़हर पीने का समय है, ऐसा आता है, हाँ ! उसे मानो कि सब सेठ ही है। यह भाई, इनके लड़के बड़े-बड़े सेठ हैं, बहुत बड़े हैं।

कहते है, देखो ! विचार में चढ़ गया है; और यह मोक्ष है, देखो ! यह। मोक्षशिला है न ? निराकुल। देखो ! कैसी स्थिति है ? अकेली अनाकुलता, विकल्पमात्र नहीं, वह मोक्ष है। यह पूरा होने के बाद अगृहित मिथ्याज्ञान की बात आयेगी। फिर कहते हैं, '**याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुःखदायक अज्ञान जान।**' इस मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान सहित। सातो ही तत्त्वों की मिथ्याश्रद्धा और सातो ही तत्त्वों की मिथ्याश्रद्धा रहित। देखो ! प्रतीति लिया न ? इन सातों तत्त्वों की प्रतीति सहित - मिथ्यामान्यता, कछुक ज्ञान, जो कोई ज्ञान है, वह कष्ट को

देनेवाला अगृहित मिथ्याज्ञान है। पूर्व में मिथ्याश्रद्धा की व्याख्या थी। वहाँ अगृहीत सात तत्त्वों की श्रद्धा की भूल बतानी थी। अगृहीत अर्थात् अनादि की श्रद्धा-निसर्ग मान्यता, अनादि की भूल, किसी से सीखी हुई नहीं। वह अनादि को पकड़ी हुई साततत्त्व की भूल निसर्ग है। उसके साथ कुछ ज्ञान विपरीत '**कष्ट को देनेवाला अगृहीत मिथ्याज्ञान है...**' इसमें भाई ने लिखा है। क्या कहलाता है ? यह 'छहढाला' में 'बुधसागर' है न, 'बुध' उसमें से यह बनायी है। 'बुधजन' लिखा है। ऐसी सब बातें तो अपने 'समयसार' आदि शास्त्रो में आ गयी है। यह तो ये लोग ढाल का कर्ता दूसरा भी इस प्रकार कहते हैं।

'सब व्यवहार क्रिया का ज्ञान, भयो अनन्ती बार प्रधान।' 'सब व्यवहार क्रिया का ज्ञान, भयो अनंती बार प्रधान, निपट कठिन अपनी पहिचान, ताको पावत है कल्याण।' यह शास्त्र का ज्ञान और दूसरी क्रिया का ज्ञान और दया, दान, व्यवहार ज्ञान और यह ज्ञान, यह ज्ञान - ऐसा अनन्त बार किया। सब व्यवहार क्रिया - दया, अहिंसा और ऐसा व वैसा और ऐसा पालन करना और यह खाना, और यह लेना, यह लेना - ऐसी क्रियाएँ, उनका ज्ञान 'भयो अनन्ती बार प्रधान।' प्रधान अर्थात् ऊँचा ऐसा फिर। शास्त्र में से व्यवहार का ज्ञान निकालकर बहुत पढ़ा। ऐसे प्रायश्चित लिया जाता है और ऐसे दिया जाता है और दया चलती है, ऐसे देखकर चला जाता है, ऐसा होता है। ऐसी व्यवहार क्रिया का ज्ञान अनन्ती बार प्रधान किया।

'निपट कठिन अपनी पहिचान' - भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप का ज्ञान, वह महाकठिन है; बाकी ऐसा सब ज्ञान तो अनन्तबार किया है। मिथ्याश्रद्धासहित ऐसा मिथ्याज्ञान भी अनन्त बार किया। वह अगृहीत मिथ्याज्ञान है। समझ में आया ? 'ताको पावत है कल्याण।' लो ! 'धर्म सुभाव आप श्रद्धान' - देखो ! सम्यग्दर्शन रहित बाह्यक्रिया और चारित्र का ज्ञान किया, देखो ! अर्थ में (लिखा है)। तथा धर्म का स्वरूप तो आत्मा का श्रद्धान है। पहले यहाँ से प्रारम्भ किया है। 'धर्म सुभाव आप श्रद्धान, धर्म न शील, न स्नान, न दान।' कषाय की मन्दता आदि शीलस्वभाव या न स्नान या दान धर्म-बर्म नहीं है। पुकार तो करते हैं यह 'बुधजन' पहले से, लो ! और यह लोग कहते हैं, 'सोनगढवालों' ने ऐसा किया, 'सोनगढवालो' ने ऐसा किया, कहते हैं। समझ में आया ?

'बुधजन गुरु की सीख विचार, गहो धाम आतम हितकार।' भगवान अनन्त गुण का स्वामी

प्रभु, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द से भरचक भरा हुआ छलाछल - ऐसे भगवान आत्मा के धाम की श्रद्धा कर ! कहते है. उसके सन्मुखदेख और उसका ज्ञान कर, वह ज्ञान है। उसके सन्मुख देख, उसका ज्ञान कर, वह ज्ञान है; बाकी व्यवहार क्रिया आदि का ज्ञान प्रधानरूप से किया। प्रधान अर्थात् बहुत ऊँचा मिथ्याज्ञान, वह कोई ज्ञान-ब्यान नहीं है। समझ में आया कुछ ? देखो ! यह यहाँ (रखा) है। ऐसे बैठा है। मिथ्याज्ञान का है न ? टेबिल है न ? मिथ्या पुस्तकें पढ़ी होगी। कुछ है अवश्य ऐसा सब लम्बा-लम्बा। अगृहीत मिथ्याज्ञान हुआ। लो !

भावार्थ :- कहते हैं कि वह दुःखदायक कष्ट को देनेवाला है। ठीक ! यह आत्मज्ञानरहित जो बाह्य क्रिया का ज्ञान, वह तो दुःखदायक और दुःख का देनेवाला है। भगवान आत्मा का ज्ञान, वह सुखदायक है। उसके बिना अकेली क्रिया का, व्यवहार की बात, सब व्यवहार लिया है - व्यवहार श्रद्धा, व्यवहार ज्ञान और व्यवहारचारित्र और व्यवहार व्रत और उसका तप और उसका सब ज्ञान - आत्मज्ञान के बिना यह सब कष्टदायक है। आहा...हा...! ऐसा तो यह लोग गृहस्थाश्रम (रहकर) दिगम्बर कह गये हैं, दिगम्बर गृहस्थ ! उसमें सनातन मार्ग था। परम्परा वीतराग केवलज्ञानी को जो बात है, वह बात परम्परा (से) दिगम्बर सन्तों में चली आयी है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- ऐसा विपरीत चला आता था, विपरीत मानते हैं, यह कहते हैं न, देखो न ! सर्वज्ञ परमेश्वर से कथित मार्ग दिगम्बर में अनादि से सत् चला आता है - ऋषभदेव भगवान से। यह देखो न, तब से यह चला आता है। क्रिया का ज्ञान, वह मिथ्याज्ञान है। उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान, वह वस्तु ही बन्ध का कारण है। अब, उसमें धर्म कहाँ आया ? यह व्रत, नियम और क्रिया का ज्ञान, वह मिथ्याज्ञान है - ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहा...हा...!

आत्मा के ज्ञान से रहित का जो ज्ञान...आहा...हा...! कथानुयोग का ज्ञान, करणानुयोग का व्यवहारज्ञान - यह सब, सम्यक् आत्मज्ञान के बिना, वह ज्ञान कष्टदायक है, ऐसा कहते हैं। अभिमान हो गया कि मुझे बहुत जानकारी है। हमें सब आता है। चारों अनुयोग में से व्यवहार ऐसा होता है, व्यवहार ऐसा होता है, व्यवहार ऐसा होता है, परन्तु वह व्यवहार - आत्मज्ञान रहित का व्यवहारज्ञान तो दुःखदायक है। आहा...हा...! अद्भुत डाला है, हाँ ! बात तो ऐसी ही है।

ऐसी प्रतीति, अर्थात् सात तत्त्वों की भूल कही न ? पहली जीव अपने उपादान से कार्य हो - ऐसा न मानकर पर से माने, यह जीव की भूल है। अजीव के उपादान से काम हो, उसे जीव से होता है - ऐसा माने, वह अजीव की भूल है। समझ में आया ? पुण्य-पाप दोनों आस्रवतत्त्व हैं, उनमें से एक को ठीक और अठीक माने, वह आस्रवतत्त्व की भूल है। बन्ध में शुभ और अशुभ एक प्रकार के संयोग हैं, उनमें एक ठीक और एक अठीक माने, यह बन्धतत्त्व की भूल है। निर्जरा की भूल - इच्छा को रोकना, उसमें लाभ है, उसके बदले अकेली शुभ इच्छा करने में लाभ है - इसका नाम निर्जरातत्त्व की भूल है।

परिपूर्ण निराकुल मोक्षतत्त्व है। उसमें कुछ भी वहाँ अन्दरखाने-पीने का नहीं, अमुक नहीं, वहाँ ऐसा नहीं, वहाँ यह नहीं - ऐसा कितने ही चिल्लाते हैं न ? यह क्या कुछ नहीं मिलेगा ? लाड़ी नहीं, वाड़ी नहीं, गाड़ी नहीं, घोड़ी नहीं, बोलना नहीं, सुनता नहीं, लो ! ऐसा का ऐसा (रहना)। इस निराकुल सुख का - मोक्षसुख का उसे पता नहीं है। आकुलता से छूट जाने का नाम मोक्ष है। उसके बदले (ऐसा माने कि) खाना नहीं, पीना नहीं, लड्डु नहीं, चूरमा नहीं, दाल-भात नहीं, सब्जी नहीं, बघारे हुए करेला नहीं। है ? यह तो करेला के अन्दर मसाला भरते हैं न ? और रस होवे, ऊँचा रस, भाई ! आम का बड़िया रस। वहाँ था न, देखो न ! ऐसी बड़िया से बड़िया आम। वहाँ भी आम लाये थे। वह कौनसा गाँव ? 'खड़... खड़...' यह कौनसा गाँव कहा ? वे उठकर गये थे 'शंकर' के देवालय में। पहले नहीं 'कुण्डले' से उठकर। वह 'खड़' कौनसा गाँव ? गाँव का क्या नाम ? 'खड़कालु।' 'खड़कालु ?' हाँ, वह। वह शंकर का देवालय नहीं ? 'कुण्डले' से उठकर। तब की बात है। कहों, समझ में आया ? नहीं रस, पुड़ी... गर्म-गर्म पुड़ी घी में तली हुई और बड़िया में बड़िया मीठारस निकाला हुआ, ऐसा कटोरा भरकर एसा फर्स्टक्लास ! उसके साथ मीठा साठा / फिका है ? कहते है, एसा कुछ नहीं, उस मोक्ष का हमें क्या करना है ? समझ में आया ? मूढ़ ! तुझे मोक्ष का पता नहीं है। यह सब इच्छायें - खाने, पीने की, वह तो आकुलता है। होली है वहाँ। वहाँ दुःख का ढेर है। यह खाऊँ, और यह लूँ और वह लूँ और पतरवेलियाँ और श्रीखण्ड व पुड़ी और... सभी इच्छायें दुःखरूप हैं। ऐसा तो वहाँ नहीं है, कहते हैं। परन्तु वहाँ नहीं किसका ? वहाँ तो निराकुलता आनन्द है। तुझे दुःख है, इसलिए इच्छा होती है।

यह वर्णन किसलिए किया ? यह आकुलता है - ऐसी आकुलता वहाँ नहीं है। उसे मानता है

कि ऐसा कुछ नहीं। ऐसी आकुलता किसकी हो, परन्तु वहाँ ? समझ में आया ? अकेला अनाकुल रसकन्द में ऐसा पड़ा है अन्दर से। आहा...हा...! 'सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुख में, अनन्त दर्शन, ज्ञान सहित जो।' - श्रीमद् ने कहा है न ? ऐसा आनन्दस्वरूप मोक्ष, उसे नहीं मानकर, कोई इच्छा करें, इच्छा करे, इच्छा करें, कुछ नहीं मिलता, साधन नहीं मिलता, इच्छायें नहीं मिलती, यह नहीं मिलता - ऐसा मोक्ष हमें नहीं चाहिए।

एक व्यक्ति फिर ऐसा कहता था। बिचारा मर गया। वह कहता - मोक्ष में वे सिद्ध क्या करते हैं ? कहा - कोई हराम कुछ करे तो। तब वह कहता - यह सिद्ध हमें नहीं चाहिए। कहो, ठीक ! 'हीराभाई' के मकान में 'नारणभाई' के मित्र थे, कितनी ही बार आते थे, परन्तु दृष्टि इतनी विपरीत। सिद्ध परमात्मा मोक्ष (में जाकर) क्या करते हैं ? मैने कहा - आत्मा के आनन्द को करते हैं, बस ! दूसरा कुछ नहीं। हराम है किसी का कुछ करे तो; एक छिलका भी नहीं फिराते। (तब वह कहता), ऐसा मोक्ष हमें नहीं चाहिए। उसका अर्थ कि हमें ऐसा मोक्ष चाहिए ही नहीं। बापा ! तुम्हें, मोक्ष अर्थात् क्या ? - इसका (पता ही नहीं है।) यहाँ भी जितने अंश में राग घटे और स्वरूप में स्थिर हो, उतने अंश में शान्ति है। राग होवे और प्रवृत्ति अनुकूल होवे, उसमें शान्ति है - ऐसा नहीं है।

मानों दूसरों को सुधार दे और सब सुखी दिखें, बस ! अपने को शान्ति... मूढ़ है। वह तो राग है, मूर्ख ! समझ में आया ? पर का कर दें, वह तो आकुलता की बुद्धि महामिथ्यात्व है - मिथ्यात्व है। ज्ञानस्वरूप में राग का करना है ही कहाँ ? उसके बदले जहाँ कर्तृत्व स्वीकार किया है, (वहाँ) तीव्र आकुलता है, मिथ्यात्व की तीव्र आकुलता है। मिथ्या अर्थात् असत्य दृष्टि की तीव्र आकुलता है। अब ऐसा उसे वहाँ नहीं दिखता। कहा - पर का अच्छा करने की इच्छा मोक्ष में नहीं होती। ऐसा मोक्ष ? है ? कुछ समझ में आया ?

कहते हैं, ऐसी मान्यता सहित जिसका उल्टा ज्ञान है, उसे अगृहीत मिथ्यात्व कहा जाता है। यह सातों तत्त्वों के भूल की व्याख्या हो गयी। निर्जरातत्त्व में आत्मा के आंशिक शुद्धि की वृद्धि। यहाँ कहा न ? 'निज शक्ति खोय' - अपना आत्मा आनन्दमूर्ति श्रद्धा सम्पन्न केवलज्ञान का कन्द, ऐसी उसकी शक्ति है। उसकी शक्ति की श्रद्धाज्ञान द्वारा प्रगट होना चाहिए, प्रगट होना चाहिए, उस शक्ति की प्रगटता होनी चाहिए, उसके बदले इसने अकेली इच्छा में लाभ माना है।

आंशिक शुद्धि की वृद्धि अथवा अशुद्धि की हानि होना, उसे संवरपूर्वक निर्जरा कहा जाता है। वह निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक हो सकती है। वह निर्जरा, आत्मा के परिपूर्ण शुद्ध आनन्द की प्रतीति के अनुभवपूर्वक ही निर्जरा होती है; वरना निर्जरा नहीं हो सकती। क्योंकि शक्ति परिपूर्ण है, उसका प्रतीति और ज्ञान में तो भान आया नहीं। (भान) आये बिना स्थिर कहाँ हो और निर्जरा हो कहाँ ? - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? सम्यग्दर्शनपूर्व जो कहा, उसका अर्थ यह कि जहाँ आत्मा एकत्वस्वरूप से अखण्डानन्द पूर्ण आनन्द, पूर्णज्ञान का कन्द आत्मा है - ऐसा जहाँ अन्तर ज्ञान में प्रतीति ही नहीं आयी, भान ही नहीं आया तो उसमें स्थिरता कहाँ से हो ? इसलिए सम्यग्दर्शन के बिना उसे निर्जरा नहीं हो सकती। समझ में आया कुछ ?

ज्ञानानन्द स्वरूप में स्थिर होने से... देखो ! शुभ-अशुभ इच्छा का निरोध होता है, उसे तप कहा जाता है। अकेला उपवास करे और इच्छा है, वहाँ तो राग का भाग है। इच्छा रहित चीज़, निराकुल आनन्दकन्द - ऐसे आत्मा की तो प्रतीति नहीं हुई कि उसमें स्थिरता से मेरा चारित्र होगा; उसमें स्थिरता से मेरी मुक्ति होगी। क्या कहा ? यह स्वरूप अखण्डानन्द ज्ञान का पुंज प्रभु है, वही मेरा तत्त्व है। उसमें स्थिरता से मेरी मुक्ति होगी - ऐसी प्रतीति का भान तो हुआ नहीं; उसे निर्जरा कहाँ से हो ? समझ में आया ? वह तो बाहर की इच्छा के वेग में खिंच गया है। यह कर दूँ और यह कर दूँ, दूसरे का कर दूँ। दुनिया का उद्धार कर दूँ... परन्तु पहले तेरा तो कर !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- हाँ, एसा कितने ही कहते हैं। कितने ही कहते हैं (भले ही) हमारे दो भव बढ़ें, परन्तु यदि दुनिया का कल्याण होता होवे तो, भले ही दो भव बढ़ें। उस मूढ़ को न तो आत्मतत्त्व की श्रद्धा है, न मुक्ति अनाकुल होती है - इसकी श्रद्धा है। उसे आकुलता करके दुनिया को सुधारने का भाव है।

मुमुक्षु :- मोक्ष हो जाए...

उत्तर :- धूल में भी नहीं। बात नहीं कही ? लोककल्याण कर ही कौन सकता है ? यह (संवत्) १९८२ के साल में हमारे बड़ी चर्चाचली थी। कहा नहीं था ? 'तिरे वह तारे।'- ऐसा सुत्र लिखा था। 'वढ़वाण' में चातुर्मास में। (एक मुमुक्षु) है न ? 'तिरे, वह तारे।' एक वकील आया। कंदोई वकील है। वकील आया-महाराज ! ऐसा न करो। तब क्या करना चाहिए इसमें ?

'तारे वह तिरे' भाई ! कितना ढूँढ़ने जाना ? कहा - एक भी व्यक्ति न होय तो उसे केवलज्ञान हो नहीं न ? समझ में आया ? (संवत्) १९८२ केसाल की बात है। व्याख्यान चलता हो न ? सिर पर चाक बाँधते। सूतका, हाँ ! क्या कहलाता है ? भरकर, धागों से भरा हुआ। 'तिरे, वह तारे' - ऐसा लिखा था। वकील आया। महाराज ! ऐसा नहीं चाहिए। 'तारे वह तिरे।' कहा - कितनों को ढूँढ़ना ? कितनों को ढूँढ़ने जाना ? यहाँ ढूँढ़ना या वहाँ ढूँढ़ना ? भाई ! दुनिया तो ऐसे की ऐसे चली ही जाती है। यह तो १९८२ की बात है, लो ! चालीस वर्ष हुए। 'तारे वह तिरे।' कहा - एक को भी नहीं तारे और स्वयं तिरे, सुन न ! निमित्त तो, उसकी स्वयं की सामनेवाली की योग्यता हो और इसे पुण्य का योग हो तो निमित्त होता है। निमित्त नहीं भी होता, एक को भी नहीं तारे और स्वयं तिरे।

अपना आत्मा अखण्डानन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। उसकी दृष्टि, ज्ञान और रमणता करना - यह एक ही इसे मुक्ति का उपाय है। यह तो दुनिया ऐसा कहे, ओ..हो...हो...! दश-दश हजार, बीस-बीस हजार, पच्चीस-पच्चीस हजार मैं इसका व्याख्यान (होता है) और लोग ... धूल में क्या है ? परन्तु है क्या ? यह वाणी ही आत्मा की नहीं है, इच्छा होती है, वह आत्मा की नहीं है। अब, इसमें कल्याण किसका करना ? ऐ..ई..! वाणी जड़ है, उसमें से आत्मा को लाभ नहीं है। इच्छा हुई कहा, वह इच्छा राग है, आकुलता है। (उससे) आत्मा को लाभ नहीं है। किससे लाभ करना है इसे ? पूरी दृष्टि की मूल में भूल है। कुछ समझ में आया ?

अशुभ इच्छा और शुभ का निरोध हो, उसे तप कहते हैं। यह इच्छा जो हुई, इसे ही न होने देना और स्वरूप को शान्ति और अनाकुल आनन्द को प्रगट शक्ति का व्यक्त भाव होना यही धर्म और तप और निर्जरा है। आहा...हा...! ऐ.... 'तपस्वी !' यह तपस्वी कह गया। महीने के उपवास करे तो उससे दूसरा विशेष भले हो परन्तु कहीं तपस्वी कहलाये ? बाहर में वह गिना जाता है। (एक भाई की) बहु से कहा। यह कहे तुम डिग्रीवाले होकर हमारी सेवा करते हो (तो वह कहे) हमारी डिग्री से तुम्हारी डिग्री ऊँची। वे विचारे यहाँ के गिने जाते। (एक भाई की) बहू डॉक्टर है न ? तुम्हारी डिग्री ऊँची। यह कहे - परन्तु तुम ऐसे ऊँचे और हमारी सेवा करते हो, हम साधारण मनुष्य।

यहाँ तो बात यह है कि जिसे आत्मा में इच्छा ही नहीं करना। इच्छा होती है, वही बन्ध का

कारण है। बोलने-फोलने की बात थी कब ? यह वाणी तो जड़ की है। समझ में आया ? कहते हैं, सम्यग्दर्शनपूर्वक और सम्यक् ज्ञानानन्दस्वरूप में स्थिर होने से शुभ-अशुभ का इच्छा का रूक जाना, उसे सच्चा तप और निर्जरा (कहते हैं।) दुनिया को उपदेश दो तो अपने को निर्जरा होगी। धूल भी नहीं होगी, सुन न ! उपदेश तो वाणी है, वाणी से आत्मा को निर्जरा होती होगी ? और इच्छा उत्पत होवे, वह पुण्य है, उससे जीव को निर्जरा होती है ? दुनिया धर्म प्राप्त करे। तू (स्वयं) समझा नहीं और अन्य को तू कहाँ से निमित्त होगा ? धर्म का स्वरूप क्या है, यह तो अभी तुझे ही पता नहीं। तू जाने कि यह इच्छा करूँ और यह उपदेश दूँ तो धर्म होगा... मूढ है तू। अब ऐसा किस प्रकार से तू दूसरों को करेगा ?

मुमुक्षु :- आता है।

उत्तर :- परन्तु कहाँ से आता है ? इच्छा रहित, वाणी रहित आत्मा का स्वभाव है। उस स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करे, उसे धर्म होता है। लायेगा कहाँ से ? समझ में आया ? अद्भुत बात, भाई !

प्रश्न : मूल में से भूल ही नीकली ?

उत्तर :- मूल में से भूल बड़ी मणकी, मणमें आठ पंसेरी की भूल (शत् प्रतिशत भूल) है। आहा...हा...!

'**शुभ-अशुभ इच्छा का निरोध होता है, वह तप है। तप दो प्रकार का है - (१) बाल तप, (२) सम्यक्तप।**' देखो ! '**अज्ञान दशा में जो तपकिया जाता है,...**' देखो ! उनोदर की वृत्ति, रस परित्याग (करे), त्याग भले करे परन्तु आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप का भान नहीं है। वह इच्छा मात्र का कर्ता नहीं। वाणी का कर्ता नहीं, किसी को समझावे और दूसरा समझे - यह भी वस्तु में है ही नहीं। आहा...हा...! अधिक समझें तो अधिक लाभ होता है, थोड़ा समझे तो उसे मोक्ष थोड़ा दुष्प्राप्य हो - ऐसा होगा न ? जिससे बहुत समझे, उसका मोक्ष झट हो जाए और जिससे थोड़े (भी) नहीं समझे तो उसका मोक्ष नहीं होता ! ढूँढ़ना पड़ता है न अधिक को ? अरे...! चल..चल...!

भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु, उसे खोजकर उसमें एकाग्र होता है, उसका मोक्ष होता है।

लाख बातें (हों), इच्छा हो या उपदेश हो, उसके घर, उसके घर रहे। उसके साथ आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं है। कहो, समझ में आया कुछ ? आहा...हा...! पन्द्रह-पन्द्रह हजार लोगों को धर्म प्राप्त कराये, उसे कितना लाभ होता है ? धूल भी नहीं होता, सुन न ! अभी दूसरों को प्राप्त नहीं करा सकता, वे तो स्वयं के कारण से समझते हैं और तेरी श्रद्धा में तो ऐसा है कि यह दूसरे समझे तो उसमें कुछ थोड़ा भाग मुझे मिलेगा... मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...!

मुमुक्षु :- व्यापार में बढ़ोतरी होवे तो व्यापार ही सूझेगा न ?

उत्तर :- यह ठीक, परन्तु इच्छा के साथ पर का सम्बन्ध क्या ? जीव बोले तो जीव को लाभ होता है - यही बात मिथ्यादृष्टि मानता है। भाषा जड़ की है और जीव को उपदेश देने की इच्छा होती है तो आत्मा को लाभ होता है, वही मूढ़ है। इच्छा तो राग है, उसमें से लाभ कैसे होगा ? और दूसरे समझे तो इसे लाभ होता है - तो दूसरे के समझ ने की उसकी योग्यता है। उसमें तुझसे समझा कहाँ है ? और वह समझे, इसमें तुझे ज़रा भी लाभ कहाँ ? आहा...हा...! अद्भुत बात, भाई ! परन्तु भाई ! आता है न ? 'सर्व जीव करुँ शासन रसि' - यह तो विकल्प आया, उसका बन्ध पड़ता है - ऐसा कहा है। 'श्रीमद्' ने ऐसा कहा है। यदि एक जीव को भी धर्म प्राप्त कराये तो तीर्थंकर पुण्य बाँधे। अर्थात् ? वह इच्छा हुई, उसमें तुझे बन्ध होगा - ऐसा वहाँ कहा है। भाई ! ऐसा कहा है, हाँ उन्होंने ! अन्य क्या समझे ? आहा...हा...! परन्तु ऐसा लिखा है। उनकी - 'श्रीमद्' की शैली तो अलग प्रकार की। अर्थात् जो धर्म समझा है और ज़रा इच्छा हुई; अब उसमें कोई समझे न समझे उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। इच्छा आयी तो इच्छा से उसे सम्यग्दर्शन है (-ऐसा नहीं मानता)। इच्छा मेरा कर्तव्य नहीं है; मुझसे दूसरा समझता नहीं; यह वाणी निकलती है, वह मेरी चीज़ नहीं - ऐसी इच्छा में निषेध वर्तता है, आत्मा का आदरभाव है और उसका आदर नहीं है, इसलिए उसे तीर्थंकर प्रकृति बँधेगी। वह बँधेगी, उसमें आत्मा को लाभ नहीं है। इच्छा से लाभ नहीं है और बँधने से लाभ नही है - ऐसा सम्यग्दृष्टि मानता है। उस इच्छा को तोड़कर स्थिर होऊँगा तब मुझे चारित्र और केवल(ज्ञान) होगा। इच्छा से प्रकृति बँधी, इसलिए मुझे केवल होगा - ऐसा ज्ञानी नहीं मानता और ऐसा हो (भी) नहीं सकता। आहा...हा...! अद्भुत बात, भाई ! कुछ समझ में आया ?

सात तत्त्व की भूल कहकर कहा कि यह भूलवाला जितना दूसरा ज्ञान करता है, वह सब ज्ञान

कष्टदायक है। समझ में आया ? '**अज्ञानदशा में...**' अर्थात् आत्मा के भान बिना, इच्छा से लाभ माननेवाले, शरीर की क्रिया से लाभ माननेवाले ऐसे अज्ञानी को यह जो कुछ रागादि मन्द हो और कोई तपस्या, उनोदर हो, वह सब बालतप है। '**उससे कभी सच्ची निर्जरा नहीं होती...**' उसे सच्ची अर्थात् शक्ति की प्रगटता (नहीं होती), क्योंकि उसमें सामने तो पर के सामने देखने का है, स्व के सन्मुख देखने का नहीं और स्वसन्मुख (देखकर) प्रतीति करे तो फिर स्वसन्मुख देखकर स्थिर होवे। चिदानन्दस्वरूप अखण्डानन्द पूर्ण हूँ, मैं ज्ञाता-दृष्टा परिपूर्ण हूँ - ऐसी प्रतीति और अनुभव होवे तो उसके सन्मुख देखकर स्थिर होवे, परन्तु उसकी प्रतीति का तो पता नही हो, स्थिर कहाँ होना ? इसलिए अज्ञानी के जितनी तपस्या आदि होती है, वह सब बालतप है, (उससे) पुण्यबन्ध आदि भले हो, परन्तु मिथ्यात्वसहित है, इसलिए अज्ञानतप है। ओ..हो..हो...!

'**किन्तु आत्मस्वरूप में सम्यक् प्रकार से स्थिरतानुसार जितना शुभ-अशुभ इच्छाओं का अभाव...**' अर्थात् ? आत्मा विकल्प, इच्छा और वाणी रहित है - ऐसा अन्तर अनुभव और दृष्टि हुई है, उसे '**सम्यक् प्रकार से स्थिरतानुसार...**' उसमें जितनी स्वसन्मुख स्थिरता हुई, उसके अनुसार जितना शुभ-अशुभ का अभाव हो गया, वह सच्ची निर्जरा है, उसे सच्चा तप कहा जाता है। कहो, समझ में आया ? '**किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा नहीं मानता।**'

'**अपनी अनन्त ज्ञानादि शक्ति को भूलकर...**' मेरी शक्ति मुझ में है; इच्छा से प्रगट नहीं होती, निमित्त से प्रगट नहीं होती बोलने से प्रगट नहीं होती। मेरा स्वरूप तो पूर्णानन्द है, उसके सन्मुख देखने से, एकाग्र होने से शक्ति प्रगट होती है। जिसमें भरी है, उसमें एकाग्र होने से होती है - उसका इसे पता नहीं है। जिसमें पूर्णानन्द केवलज्ञान, आनन्द पड़ा है - ऐसे स्वरूप की प्रतीति हुई है, उसमें एकाग्र होने पर (शक्ति की प्रगटता) होती है - ऐसा भान तो अज्ञानी को नहीं है। इस कारण उसके समस्त तप को अज्ञानतप कहा गया है। कुछ समझ में आया ?

'**पराश्रय में सुख मानता है...**' इच्छा हुई है न ? वाणी निकलती है, त्यागादि या उपवास करे, उसमें लाभ मानता है, वह पराश्रयभाव है। '**शुभाशुभ इच्छा और पाँच इन्द्रियों की**

विषयों की इच्छा को नहीं रोकता।' परन्तु रोके कहाँ से ? जिसे इच्छा रहित स्वरूप ही क्या है - उसका भान नहीं और इच्छा में ही सर्वस्व माना है - परसन्मुखता के वेग की वृत्तियों में सर्वस्व माना है। चीज़ दूसरी है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान नहीं है। अद्भूत बात की है। देखो न ! एक श्लोक में यह सब है, हाँ !

मुमुक्षु :- जब इच्छा का नाश...

उत्तर :- यह बात तो पहले आ गयी। कहा न ? पहाड़ा बोलता है यह, इसे जमता कहाँ है ? ज्ञान में निर्णय होना चाहिए न ? तो ऐसा राग नहीं करे - ऐसी बात पहले कही थी। भाई ! प्रातः ऐसी प्रकार करके आता है - आज हिम्मत दो। क्या है ? हिम्मत हार गये हैं। हिम्मत हार गया है - ऐसा नहीं बोले। समझ गये। सफाई भाषा की थोड़ी। है या नहीं ? पहले भाषा ऐसी करते कि अब तो ऐसा है और सवेरे ऐसा है। फिर परसों आये तो (कहा) हिम्मत दो, महाराज ! ऐसी सफाई से भाषा बदली उन्होंने। अर्थात् हिम्मत हार गया है - ऐसा नहीं बोला। उसने भाषा बदली। है ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- नहीं, नहीं। यह तो अन्दर बनियागिरी की। मैंने तुरन्त कहा, है हिम्मत हार गये की भाषा; हिम्मत दो - तुम बोलते हो, फिर दांत निकालने लगा (हँसने लगा) ऐसा नही होता उसे। लाख प्रतिकूलता हो तो क्या ? परन्तु मुझे क्या है ? वह तो जड़ की अवस्था है। मुझे वह स्पर्श करती है ? तब उसे अन्तर आत्मा की प्रतीति होती है, तब इच्छा रूकती है। उसके बिना कहाँ से रूकती थी ? जिसमें इच्छा नहीं है - ऐसी चीजकी प्रतीति के बिना इच्छा का अभाव किस प्रकार करेगा ? इच्छा अर्थात् राग का नाश करनेवाला आत्मा-इसका अर्थ कि उसमें इच्छा नहीं है। नाश करनेवाला कहा। करने और रखने वाला है यह ? तो उसका अर्थ क्या हुआ ? भले नाश करनेवाला वास्तव में तो नहीं है। इसका अर्थ यह कि यह रागादि उसके स्वभाव में है ही नहीं। ऐसे स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान बिना राग को रोकना, इच्छा को रोकना कभी भी तीन काल में नहीं होता।